इकाई 17 जाति क्रम-परंपरा का आधार: पवित्रता और अपवित्रता

इकाई की रूपरेखा

17.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ लेने के बाद आप:

- वर्ण-व्यवस्था की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कर सकेंगे;
- जाति क्रम-परंपरा के आधार पर चर्चा कर सकेंगे;
- सुचिता या पवित्रता और दूषण की धारणाओं पर रोशनी डाल सकेंगे; और
- जाति के बारे में द्युमोंत के सिद्धान्त के बारे में जान सकेंगे।

17.1 प्रस्तावना

लंबे समय से जाति को भारतीय समाज की एक अनूठी विशेषता समझा गया है। यह सिर्फ वह संस्था नहीं है, जो भारत में सामाजिक स्तरीकरण के चरित्र को दृशाती है। बल्कि जाति को भारत की आत्मा के रूप में देखा गया है। इसे एक संस्था ही नहीं बल्कि एक विचारधारा के रूप में भी लिया जाता है। संस्था के रूप में जाति ने विभिन्न सामाजिक समूहों को सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था में उनकी प्रस्थिति और स्थान के अनुसार क्रम बद्ध करने के लिए एक ढांचा प्रदान किया। सामाजिक क्रम-परंपरा के ढांचे में इसने

व्यक्तियों को उनके जन्म के आधार पर नियत किया। उधर एक विचारधारा के रूप में जाति मूल्यों और विचारों की एक ऐसी व्यवस्था रही है, जिसने समाज के मौजूदा असमतापूर्ण ढ़ांचे को विधिसम्मत बनाने के साथ-साथ उसे शक्तिशाली बनाने का काम किया है। इसने एक ऐसा विश्वदर्शन भी दिया है जिसके इर्द-गिर्द एक ठेठ हिन्दू अपने जीवन का ताना-बाना बुनता है।

भारत को अन्य समाजों से अलग करने वाली एक संस्था होने के अलावा, जाति पारंपरिक समाज की एक 'बंद व्यवस्था' का सार रही है, जिसमें व्यक्तियों ने अपनी आजीविका के लिए पीढ़ी दर पीढ़ी एक ही किस्म का व्यवसाय अपनाया और कमोबेश एक ही किस्म की जीवन-शैली का निर्वाह किया। इसके विपरीत, पश्चिम के आधुनिक औद्योगिक समाज सामाजिक स्तरीकरण की 'खुली व्यवस्थाएं' रहीं हैं, यानी जो असल में वर्ग पर आधारित समाज हैं, जिनमें व्यक्ति अपनी योग्यता और रुचि के अनुसार अपना पेशा चुन सकते हैं। इनमें व्यक्ति सामाजिक क्रम-परंपरा में ऊँची श्रेणी हासिल कर सकता है और अपने वर्ग को बदल सकता है। वर्ण-व्यवस्था में व्यक्तिगत स्तर पर इस तरह की गतिशीलता असंभव है। इसलिए जाति को सामाजिक स्तरीकरण का चरम स्वरूप कहा गया है।

17.1.1 वर्ण व्यवस्था की प्रमुख विशेषताएँ

प्रख्यात समाजशास्त्री जी.एस. घुरये के अनुसार हिन्दू वर्ण-व्यवस्था की छः प्रमुख विशेषताएं हैं। ये विशेषताएं इस प्रकार हैं:

i) *समाज का सखंड विभाजन*: जातियाँ ऐसे समूह थीं, जिनकी अपनी एक सुविकसित जीवन शैली थी। इन समूहों की सदस्यता जन्म द्वारा निर्धारित होती थी, जिसमें चुनाव या रुचि की कोई गुंजाइश नहीं थी। किसी भी व्यक्ति की हैसियत इससे तय नहीं होती थी कि उसके पास कितनी धन-दौलत है, बल्कि इससे होती थी कि हिन्दू समाज में उसकी जाति को कौन सा दर्जा प्राप्त है।

ii) *क्रम-परंपरा*: विभिन्न जातियों के बीच सामाजिक श्रेष्ठता या महत्ता की एक सुनिश्चित योजना काम करती थी। जाति क्रम-परंपरा के इस ढ़ांचे में हर जाति समूह को एक विशेष दर्जा दिया गया था।

iii) *खान-पान और सामाजिक संपर्क पर अंकुश*: व्यक्ति किस तरह का भोजन या पेय और किस जाति से स्वीकार करे या नहीं, इस बारे में बड़े ही सूक्ष्म नियम प्रचलित थे।

iv) *नागरिक और धार्मिक अशक्तता और विभिन्न वर्गों के विशेषाधिकार*: गांव में अलग-अलग जातियों या जाति समूहों का पृथक्करण नागरिक विशेषाधिकार और अशक्तता का सबसे बड़ा चिन्ह था। कुछ संस्कारों को सिर्फ ब्राह्मण के अलावा अन्य जाति का व्यक्ति नहीं कर सकता था। इसी तरह शूद्रों और अन्य निम्न जातियों को पवित्र ग्रंथों को पढ़ने या उनका ज्ञान हासिल करने की अनुमति नहीं थी।

v) *पेशा चुनने की स्वतंत्रता नहीं होना*: आम तौर पर प्रत्येक जाति एक खास तरह के पेशे को ही अपना विधिसम्मत आजीविका मानती थी। पैतृक पेशे को छोड़कर कोई दूसरा पेशा अपनाना, वह अगर लाभप्रद भी हो, तो भी उचित नहीं समझा जाता था।

vi) *विवाह पर अंकुश*: जाति समूह सिर्फ सगोत्र विवाह करते थे। इसका यह अर्थ है कि एक जाति के सदस्य अपनी ही जाति में विवाह करते थे। पर इसके कुछ अपवाद भी थे। उदाहरण के लिए भारत के कुछ भागों में ऊँची जाति का व्यक्ति छोटी जाति की स्त्री से विवाह कर सकता था। इस प्रकार के वैवाहिक संबंध को अनुलोम विवाह कहा गया है।

बोध प्रश्न 1

1) वर्ण-व्यवस्था की क्या विशेषताएं थी? छः पंक्तियों में बताइए।

....

....

....

....

....

....

2) जाति से आप क्या समझते हैं? छः पंक्तियों में बताइए।

....

....

....

....

....

....
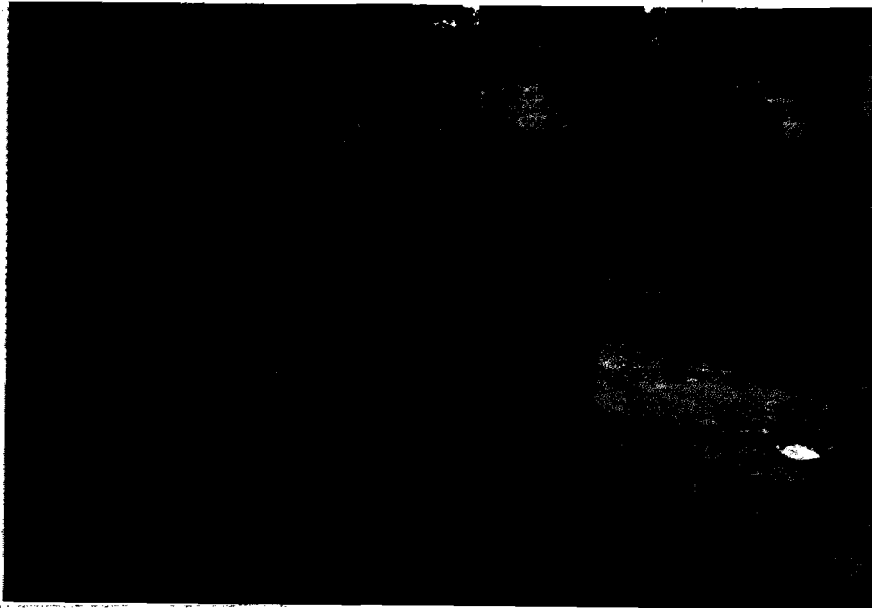
एक अनुसूचित जाति ग्राम की आधार शिला

आभार: किरणमई बुसी

आपको जानकर आश्चर्य होगा कि जाति शब्द, जिसका अंग्रेजी प्रयाय 'कास्ट' है, वह भारतीय मूल का नहीं है। बल्कि इसकी उत्पत्ति को पुर्तगाली भाषा के शब्द 'कास्ट' से माना जाता है जिसका अर्थ 'नस्ल' या 'शुद्ध' वंश से है। भारत के सामाजिक गठन को अर्थ देने के लिए इस शब्द का सबसे पहले प्रयोग करने वाले पश्चिम से आए बाहरी लोग ही थे। अभी इस का प्रयोग एक सामान्य शब्द के रूप में सामाजिक संबंधों की दो भिन्न व्यवस्थाओं के संदर्भ में किया जाता है। ये व्यवस्थाएँ हैं—वर्ण और जाति। वर्ण-व्यवस्था कमोबेश एक व्यापक ढ़ाँचा है जो समग्र देश पर लागू होता है। वर्ण चार प्रकार के माने

जाते है: ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। इनके अलावा अछूतों की पांचवी श्रेणी भी है, जिन्हें वर्ण-व्यवस्था से बाहर माना जाता है और सामाजिक क्रम-परंपरा में उन्हें सबसे निचला दर्जा दिया गया है।

अभ्यास 1

आपके विचार से वर्ण-व्यवस्था की सबसे महत्वपूर्ण विशेषताएँ क्या हैं। उन्हें अपनी नोट बुक में लिखिए और दूसरे लोगों तथा अपने अध्ययन केन्द्र के सहपाठियों के साथ उन पर चर्चा कीजिए।

17.1.2 जातियाँ

यह एक ठोस सामाजिक जन समूह है, जो हमें देश के अलग-अलग भागों में अलग-अलग स्वरूपों में दिखाई देता है। एक अनुमान के अनुसार भारत के प्रत्येक भाषायी अंचल में लगभग दो सौ से तीन सौ जातियाँ पाई जाती हैं। जातियां अपेक्षतया छोटे अंतर्विवाही समूह हैं, जिनकी अपनी एक विशिष्ट जीवन शैली और एक विशिष्ट पारंपरिक पेशा होता है। हर जाति का अपना एक नाम होता है और वह अपनी हैसियत को वर्ण क्रम-परंपरा की रोशनी में देखती है। एक अंचल में पाई जाने वाली विभिन्न जातियाँ एक ऊर्ध्व क्रम में व्यवस्थित रहती हैं। कई जातियाँ अपनी हैसियत को अन्य जातियों ने उन्हें जिस श्रेणी में रखा है, उससे अधिक जताती हैं। बेटाइली (1977) के अनुसार इस तरह की अस्पष्टता हमें खासकर मध्यक्रम के जाति समूहों में देखने को मिलती है।

वर्ण-व्यवस्था में हमें ऊर्ध्व गतिशीलता के उदाहरण भी देखने को मिलते हैं। छोटी जाति ऊँची जाति की जीवन शैली को अपनाकर जाति क्रम-परंपरा में अपनी स्थिति को बदल सकती थी और ऊँचा उठ सकती थी। भारत के प्रसिद्ध समाजशास्त्री एम.एन. श्रीनिवास ने इस प्रक्रिया को संस्कृतीकरण की संज्ञा दी है। पर जैसा कि आंद्रे बेटाइली ने भी बताया है, सिर्फ ऊंची जाति के कर्मकांडों और जीवन शैली को अपनाकर ही कोई निम्न जाति वर्ण-व्यवस्था में ऊँचा नहीं उठ सकती थी। बल्कि इसके साथ यह भी जरूरी था कि उस जाति समूह की भौतिक स्थिति में कुछ गुणात्मक सुधार हो। मगर जिन जातियों ने अपनी जीवन शैली का संस्कृतीकरण किया, उन्होंने जाति क्रम-परंपरा की व्यवस्था या इसकी विचारधारा को कभी कोई चुनौती नहीं दी। बल्कि वे तो सिर्फ इस व्यवस्था में अपनी स्थिति को बदलना चाहती थी। यूं तो अलग-अलग जातियाँ ऊपर उठीं या नीचे गिरी लेकिन वर्ण-व्यवस्था के ढांचे में कोई बदलाव नहीं आया।

17.2 जाति क्रम-परंपरा का आधार

जाति क्रम-परंपरा की व्यवस्था पर समाजशास्त्रियों और समाजनृविज्ञानियों में अनेक अध्ययन किए हैं। इस व्यवस्था को परिभाषित करने और इसकी विशेषताओं को जानने के अलावा उन्होंने वर्ण-व्यवस्था की व्याख्या के लिए सिद्धान्त भी प्रस्तुत किए हैं। इस प्रक्रिया में उन्होंने इन प्रश्नों का उत्तर भी ढूंढने का प्रयास किया है कि जाति क्रम-परंपरा की व्यवस्था आखिर भारत में ही क्यों पनपी और युगों से वह कैसे जीवित रह पाई है? या जाति क्रम-परंपरा का आधार क्या है? अलग-अलग विद्वानों ने जाति को अपने-अपने तरीके से परिभाषित किया है। कुछ विद्वान वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति के मूल में नस्ली युद्धों को देखते हैं, तो कुछ इसकी उत्पत्ति अर्थ-व्यवस्था में ढूँढते हैं। कुछ ऐसे विद्वान भी हैं जो इसे हिन्दू/भारतीय समाज के विशिष्ट सांस्कृतिक मूल्यों की रोशनी में देखते हैं।

17.2.1 जाति और नस्ल

भारत पर टीका करने वाले कुछ पुराने विदेशी विद्वानों ने जाति और नस्ल के बीच संबंध मानकर इसे भारत पर आर्यों के तथा-कथित आक्रमण से जोड़ा। उनका मानना था कि सवर्ण हिन्दू 'विदेशी' या आर्य मूल के थे और निम्न जातियां 'मूल' या 'आदि' नस्लें थी। विजेता होने के नाते आर्यों ने अपने आपको सवर्ण जाति का दर्जा दिया और यहां के मूल

पराजित वासियों को अपने अधीन कर उन्हें निम्न जाति का दर्जा दिया। इस सिद्धान्त की पुष्टि के लिए प्रमाण के रूप में उन्होंने इस बात को रखा कि सवर्ण जातियों के लोंगों का रंग छोटी जातियों से गोरा होता है। मगर इस सिद्धान्त को कोरी कल्पना मानकर खारिज कर दिया गया क्योंकि इस तरह के तर्क की पुष्टि के लिए ठोस प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। यह तर्क भी दिया गया है कि निम्न जातियों का रंग काला इसलिए नहीं होता कि वे मूलत: अलग नस्ल की हैं, बल्कि इसलिए कि उन्हें खुली धूप में खेतों-खलिहानों में शारिरिक श्रम करना पड़ता है। यह अगर सत्य भी है कि आर्य बाहर से आए थे तो भी इससे जाति भेदों और क्रम-परंपरा की जटिल वास्तविकता स्पष्ट नहीं हो पाती है। इस प्रकार की विस्तृत क्रम-परंपरा आखिर क्यों विकसित हुई? इस स्थिति ने वर्ग जैसी असमानता को जन्म क्यों नहीं दिया?

17.2.2 जाति और व्यवसाय

जो विद्वान जाति को अर्थ-व्यवस्था की रोशनी में देखते हैं वे ऐसा जाति और व्यवसाय के बीच पाए जाने वाले संबंध के मद्देनजर करते हैं। उनके अनुसार जाति एक किस्म का श्रम-विभाजन था, जिसके अंतर्गत विभिन्न जाति समूह अलग-अलग पेशों में महारत रखते थे। कुछ विद्वान इसे पूर्व-पूंजीवाद/सामंतवाद का एक विशिष्ट रूप मानते हैं, जो उनके अनुसार कुछ खास मामलों (जैसे जाति अंतर्विवाह, सहभोजिता और शारीरिक संपर्क पर अंकुश) में एक दूसरे पृथक तो थी, मगर वहीं दूसरे मामले (श्रम के पारंपरिक विभाजन) में परस्पर-निर्भर भी थीं। प्रसिद्ध समाज शास्त्री बौगल (1991) के अनुसार जाति शब्द का अर्थ सिर्फ पैतृक पेशों में महारत होना ही नहीं था, बल्कि उसमें विभेदी अधिकार भी निहित थे। विभिन्न व्यवसायों को क्रम-परंपरा में क्रम बद्ध रखा गया था, जिससे उन्हें अपनाने वाले व्यक्ति सामाजिक दृष्टि से असमान बन गए। यही असमानता वर्ण-व्यवस्था की मूल विशेषता है। बौगल ने इस असमानता के अलावा दूषण की धारणा को भी वर्ण-व्यवस्था की महत्वपूर्ण विशेषता कहा है। एक जातिवादी समाज में विभिन्न जन-समूह एक दूसरे को आकर्षित करने के बजाए तिरस्कार करते हैं, वे अपने ही दायरे में सिमटे रहते हैं और वे अपने सदस्यों को करीबी समूहों से वैवाहिक संबंध बनाने से रोकने का भरसक प्रयत्न करते हैं। बौगल ने इस प्रकार वर्ण-व्यवस्था की तीन मुख्य विशेषताएँ रेखांकित की हैं: पैतृक व्यवसाय, क्रम-परंपरा और पारस्परिक तिरस्कार। इसी प्रकार भारतीय समाजशास्त्री एस.वी. केत्कर ने 1909 में प्रकाशित पुस्तक *हिस्ट्री ऑफ कास्ट इन इंडिया* में कहा है कि वर्ण-व्यवस्था का आधार शुचिता और दूषण की धारणा है।

17.3 पवित्रता और दूषण

जैसा कि हमने ऊपर बताया है, जाति क्रम-परंपरा के सिद्धांत का आधार शुचिता और दूषण की धारणा है। इसका संबंध फ्रेंच समाजशास्त्री लुई द्युमोंत के विचारों से है। उन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक *होमो हायर्किकस: द कास्ट सिस्टम एंड इट्स इम्प्लिकेशंस* में इस **सिद्धांत** का गहन विवेचन किया है। द्युमोंत ने असल में पारंपरिक हिन्दू वर्ण-व्यवस्था के बारे में एक सामान्य सिद्धांत को रखा है, जिसे हम 'आदर्श पुरुष' कह सकते हैं। अपने तर्कों को आधार प्रदान करने के लिए द्युमोंत ने हालांकि नृजातिवर्णन संबंधी सामग्री का प्रयोग किया है, जिसमें उन्होंने वर्ण-व्यवस्था किस तरह व्यवहार में लाई जाती है, इस पर जमीनी-शोधकार्य (फील्ड वर्क) पर आधारित वृतांत भी प्रस्तुत किए हैं। मगर उनके मुख्य स्रोत प्राचीन हिन्दू ग्रंथ ही रहे हैं। हिन्दू वर्ण-व्यवस्था को उन्होंने एक संरचनावादी नजरिए से देखा है, जिसका मुख्य विषय एक निश्चित प्रणाली के मूल में निहित विचारों का ढांचा है। ये 'मूल सिद्धांत' ही उस प्रणाली के तर्क का आधार बनते हैं जो हमें रोजमर्रा के व्यवहार में स्पष्ट नजर नहीं आते। द्युमोंत का उद्देश्य एक शुद्ध मॉडल विकसित करना था, जो वर्ण-व्यवस्था की एक सामान्य व्याख्या दे सके।

बॉक्स 17.01

द्युमोंत उन विद्वानों के आलोचक रहे हैं, जिन्होंने जाति की व्याख्या राजनीतिक-आर्थिक कारकों की रोशनी में देने का प्रयत्न किया है, जिसमें जाति को प्रभुत्व और शोषण की व्यवस्था के रूप में देखा जाता है। उदाहरण के लिए वे एफ.जी. बैली की आलोचना करते हैं जिन्होंने *कास्ट एंड द इकॉनमिक फ्रंटियर* नामक पुस्तक में तर्क दिया है कि जातियों की राजनीतिक-आर्थिक श्रेणी और आनुष्ठानिक श्रेणी में बड़ा भारी संयोग होता है। (उन्होंने यह पुस्तक उड़ीसा में अपने जमीनी शोधकार्य को आधार बनाकर लिखी थी।) यह इस सामान्य नियम का द्योतक है कि जो लोग धन और राजनीतिक शक्ति हासिल कर लेते हैं वे आनुष्ठानिक श्रेणीकरण में ऊँचा उठ जाते हैं। इसका यहां यह तात्पर्य है कि गांव में जाति समूहों के श्रेणीकरण की व्यवस्था को उत्पादन के संसाधनों पर उनके नियंत्रण से मान्यता मिलती है।

बैली और राजनीतिक-आर्थिक सिद्धांत की लीक पर चलने वाले उन जैसे अन्य समाजशास्त्रियों से असहमति रखते हुए द्युमोंत कहते हैं कि वे भारतीय समाज की विचित्रता को नहीं समझ पाए हैं। द्युमोंत तर्क देते हैं कि ये विद्वान भारत में पश्चिम के समाजों की वर्गीय सामाजिक गठन जैसी समानताएं ढूंढते दिखाई देते हैं। वह आग्रहपूर्वक कहते हैं कि भारत और उस जैसे पारंपरिक समाज पश्चिमी समाज से मूलतः भिन्न हैं। उनकी सामाजिक रचना की व्याख्या के लिए बिल्कुल भिन्न धारणाओं की जरूरत है। द्युमोंत यह भी सिद्ध कर दिखाते हैं कि बैली यह स्पष्ट नहीं कर पाए कि जाति क्रम-परंपरा में ब्राह्मण को शीर्ष स्थान पर आखिर क्यों रखा गया था। बैली ने यह जान लिया था कि सत्ताधिकार और आनुष्ठानिक प्रस्थिति के बीच पाए जाने वाला सहसंबंध जाति-क्रम के दो चरम छोरों–यानी जाति क्रम-परंपरा के शीर्ष पर विराजमान ब्राह्मणों और उसके रसातल पर पाए जाने वाले अछूतों के मामले में काम नहीं करता। द्युमोंत का मानना है कि यह कोई विसंगति नहीं, बल्कि वर्ण-व्यवस्था की एक अत्यंत महत्वपूर्ण विशेषता है।

वह कहते हैं कि हिन्दू वर्ण-व्यवस्था को एक ऐसी पद्धति के रूप में देखने की जरूरत है जो पश्चिम के बिल्कुल उलट है। पश्चिम एक आधुनिक समाज है जिसका आधार व्यक्तिवाद है, मगर भारत एक पारंपरिक समाज है। पारंपरिक समाजों का सामाजिक ढ़ाँचा बिल्कुल भिन्न सिद्धांतों पर चलता है, जिसे हम 'समग्रता' में ही समझ सकते हैं। यह 'समग्रता' या 'साकल्यवाद' ही वह बुनियाद है, जिस पर जाति को परिभाषित करने के लिए एक अभीष्ट सिद्धांत खड़ा किया जा सकता है।

17.3.1 आधुनिक और पारंपरिक समाज

पश्चिम के आधुनिक समाज के विपरीत भारतीय समाज या किसी भी पारंपरिक समाज ने व्यक्तियों के बीच हैसियत या प्रस्थिति की समानता को बनाए रखने की ओर कभी कोई ध्यान नहीं दिया। बल्कि उनका ध्यान सामाजिक भेदों और विषमताओं को बनाए रखने पर ज्यादा था। पारंपरिक समाज में 'व्यक्ति' से ज्यादा साकल्यवाद के आदर्श को महत्व दिया जाता था। द्युमोंत तर्क देते हैं कि पश्चिमी और भारतीय समाज के बीच इस बुनियादी अंतर को ध्यान में रखकर हम जाति की समुचित व्याख्या दे सकते हैं। द्युमोंत का कहना है कि जाति सबसे पहले एक विचारधारा, यानी विचारों, विश्वासों और मूल्यों की एक व्यवस्था थी। उनके अनुसार वर्ण-व्यवस्था के इसी विचारधारात्मक पहलू की रोशनी में ही हिन्दू समाज के मूल ढांचे को देखा जाना चाहिए। इस विचारधारा से ही हम जाति का सार समझ सकते हैं और वर्ण-व्यवस्था के मूल में काम करने वाले सिद्धांत को सही-सही पहचान सकते हैं। उनकी दृष्टि में विचारधारा एक अवशिष्ट कारक या बाहरी ढ़ाँचे का एक अंश नहीं है, जैसा कि मार्क्सवाद में समझा गया है। उनके अनुसार विचारधारा एक स्वतंत्र क्षेत्र है और उसे अन्य कारक की तरह नहीं माना जा सकता है। न ही उसे राजनीतिक-आर्थिक कारक से गौण माना जा सकता है।

17.4 क्रम-परंपरा का विचार

वर्ण-व्यवस्था की विचारधारा क्रम-परंपरा है। इसलिए द्युमोंत कहते हैं: "जाति हमें क्रम-परंपरा का बुनियादी सामाजिक सिद्धांत सिखाती है।" क्रम-परंपरा ही जाति का निचोड़ है। यह असमानता का दूसरा नाम या सामाजिक स्तरीकरण का चरम स्वरूप नहीं है, बल्कि क्रम-परंपरा सामाजिक संगठन का एक एकदम भिन्न सिद्धांत है। क्रम-परंपरा पर उनकी धारणा बौगल के लगभग समान है, जिन्होंने जाति की व्याख्या क्रम-परंपरा, व्यावसायिक विशेषज्ञता और पारस्परिक-प्रतिकर्षण, इन तीन सिद्धांतों की रोशनी में की थी। मगर द्युमोंत तर्क देते हैं कि वर्ण-व्यवस्था की यथेष्ट सैद्धांतिक व्याख्या के लिए एक उभयधर्मी तत्त्व का पता लगना जरूरी है। इस अकेले वास्तविक सिद्धांत में वर्ण-व्यवस्था की उन तीनों विशेषताओं को मिलाया जा सकता है जिनका उल्लेख बौगल ने किया है। तभी हम वर्ण-व्यवस्था के ढ़ाँचे को अच्छी तरह से समझ सकते हैं। उनके अनुसार यह सिद्धांत 'पवित्र और अपवित्र का विरोध' था।

बाक्स 17.02

क्रम-परंपरा को अपवित्र पर पवित्र की श्रेष्ठता के रूप में परिभाषित किया जाता है, जो द्युमोंत के वर्ण-व्यवस्था के मॉडल का मुख्य आधार था (मदान, 1991)। जैसा कि द्युमोंत खुद लिखते हैं:

"यह विरोध ही क्रम-परंपरा का आधार है, जो कि पवित्र की अपवित्र पर श्रेष्ठता है। यह पार्थक्य का आधार है क्योंकि पवित्र और अपवित्र को एक दूसरे से अलग रखा जाना चाहिए।" यही श्रम के विभाजन का आधार है क्योंकि पवित्र और अपवित्र व्यवसायों को भी इसी तरह पृथक रखा जाना चाहिए। समग्र ढ़ाँचा इन दो विपरीत ध्रुवों के अनिवार्य मगर क्रम-परंपराबद्ध सह-अस्तित्त्व पर टिका है। (मदन, 1991)।

द्युमोंत की दृष्टि में जातियां सिर्फ क्रम-परंपरा के अनुसार ऊर्ध्व-क्रम में ही श्रेणीबद्ध नहीं थी, बल्कि वे विरोधों की एक व्यवस्था, एक ढ़ाँचे के जरिए परस्पर जुड़ी रहती थीं। वर्ण-व्यवस्था के इसी ढ़ांचे को उन्होंने प्राचीन हिन्दू ग्रंथों के अध्ययन के जरिए समझने और स्पष्ट करने का प्रयास किया था।

अभ्यास 2

क्रम-परंपरा की अवधारणा की परिभाषा दीजिए और अध्ययन केन्द्र में अपने सहपाठियों से इस पर चर्चा कीजिए। इससे आपको जो बातें पता चलती हैं उन्हें नोट कर लीजिए।

17.4.1 प्रस्थिति और सत्ताधिकार

द्युमोंत के सिद्धांत के अनुसार हिन्दू समाज की वर्ण-व्यवस्था का एक और महत्वपूर्ण पहलू यह है कि प्रस्थिति और सत्ताधिकार के बीच में विशिष्ट संबंध है। आधुनिक पश्चिमी समाजों में सत्ताधिकार और प्रस्थिति सामान्यत: साथ-साथ चलते हैं। मगर वर्ण-व्यवस्था में दोनों के बीच अपसारिता का गुण देखने को मिलता है। एक ठेठ वर्ण-व्यवस्था में जो लोग राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से शक्तिशाली हैं, जरूरी नहीं कि समाज में उन्हें सर्वोच्च स्थान प्राप्त हो। इसी तरह जिन लोगों को सर्वोच्च स्थान प्राप्त रहता है, जैसे ब्राह्मण को, वे आर्थिक दृष्टि से विपन्न हो सकते हैं और हो सकता है कि राजनीतिक रूप से वे प्रभावशाली भी न हों। वर्ण-व्यवस्था पर आधारित भारतीय समाज की सबसे बड़ी विशिष्टता यह रही है कि सामाजिक संगठन के सिद्धांत के रूप में प्रस्थिति सत्ताधिकार से हमेशा श्रेष्ठ रही है। यानी प्रस्थिति या हैसियत सत्ताधिकार को समाविष्ट किए रहती है। वर्गों में बंदे समाज के विपरीत, वर्ण व्यवस्था में सत्ताधिकार ने प्रस्थिति क्रम-परंपरा के दायरे में काम किया है।

17.4.2 द्‌युमोंत के सिद्धांत का निचोड़

द्‌युमोंत के सिद्धांत का निचोड़ हम उनकी इन मुख्य बातों के रूप में निकाल सकते हैं, जो उन्होंने अपनी व्याख्या में की हैं:

- हिन्दू वर्ण-व्यवस्था की व्याख्या हम राजनीतिक और आर्थिक कारकों की रोशनी में नहीं कर सकते। जाति वर्ग का एक और रूप या सामाजिक स्तरीकरण का एक चरम स्वरूप नहीं है।
- इसकी व्याख्या इसके विचारों और मूल्यों के मूल में निहित ढ़ांचे यानी विचारधारा की रोशनी में की जानी चाहिए।
- पारंपरिक समाज में मूल्य व्यवस्था (विचारधारा) और सामाजिक संगठन का ढ़ांचा पश्चिम के आधुनिक समाज से बिल्कुल भिन्न था।
- क्रम-परंपरा हिन्दू वर्ण-व्यवस्था की विचारधारा है। उन्होंने क्रम-परंपरा के ढ़ांचे की व्याख्या 'पवित्र' और 'अपवित्र' के बीच द्वंद्वात्मक संबंध (एकत्व और विरोध) की रोशनी में की है।
- वर्ण-व्यवस्था की एक मुख्य विशेषता यह है कि यह प्रस्थिति और सत्ताधिकार को अलग करके चलती है। क्रम-परंपरा की विचारधारा ने ही समाज में विभिन्न जाति-समूहों की प्रस्थिति को तय किया। यह वर्ण-व्यवस्था में व्यक्ति की भौतिक स्थिति से अधिक महत्वपूर्ण थी। जैसे पुरोहित का स्थान कम से कम सिद्धांततः राजा से श्रेष्ठ था।

17.5 द्‌युमोंत के सिद्धांत की आलोचना

हिन्दू वर्ण-व्यवस्था के अध्ययन में द्‌युमोंत की पुस्तक *होमो हायर्किकस* को सबसे महत्वपूर्ण योगदान माना जाता है। 'शुचिता' और 'दूषण' के रूप में जाति की उन्होंने जो व्याख्या दी है वह सहजबौद्धिक समाजशास्त्र का एक अभिन्न अंग बन गई है। मगर उनका सिद्धांत सबसे अधिक विवादास्पद भी रहा है। अलग-अलग आधार पर उनके सिद्धांत पर आलोचनात्मक दृष्टिपात करने और जाति पर उनकी व्याख्या को चुनौती देने वाले प्रसिद्ध विद्वानों में जेराल्ड मेंचर जैसे समाजशास्त्री रहे हैं। ये सभी ख्यातनाम विद्वान भारतीय समाज के अध्येता हैं और इन्होंने द्‌युमोंत के तर्कों में जगह-जगह पर अनुभवजन्य, तार्किक और वैचारिक विसंगतियां देखी हैं। द्‌युमोंत के सिद्धांत की जिन विद्वानों ने जो अलग-अलग आलोचना की है उसकी कुछ सामान्य बातें इस प्रकार हैं:

i) *यह जाति की अनुभवजन्य वास्तविकता के समरूप नहीं है:* द्‌युमोंत के आलोचक विद्वानों का मानना है कि उनका सिद्धांत कुछ चुनिंदा प्राचीन हिन्दू ग्रंथों के अध्ययन की उपज है। उन्होंने भारी मात्रा में अनुभवजन्य साहित्य को अनदेखा किया, जिसे पेशेवर समाजनृविज्ञानियों ने गांवों के अध्ययनों और मोनोग्राफों के रूप में रचा है। ये मोनोग्राफ विस्तार से यह जानकारी देते हैं कि वर्ण-व्यवस्था सूक्ष्म-स्तर पर किस तरह से काम करती है। इन अध्ययनों में उन्होंने वर्ण-व्यवस्था का जो विवेचन किया है वह द्‌युमोंत के सिद्धांत की पुष्टि नहीं करता। जैसा कि गुप्ता बताते हैं द्‌युमोंत इन वास्तविकताओं को जानते थे। मगर रोचक बात है कि उन्होंने इन्हें इस तरीके से रचा कि उनके सिद्धांत में उनका प्रभाव नगण्य हो गया। इसमें संदेह नहीं कि द्‌युमोंत बेलाग कहते हैं कि उनका प्रयत्न वर्ण-व्यवस्था के मूल में मौजूद ढ़ाँचे को समझना था न कि वर्ण-व्यवस्था दैनिक जीवन में किस तरह से काम करती है यह जानना। मगर इस प्रक्रिया में वे सामान्यीकरण कर बैठते हैं जिसका अनुभवजन्य महत्व होता है। वह

हमें यह विश्वास कराना चाहते हैं कि उनका सिद्धांत ही जाति के सार को सच्ची व्याख्या प्रस्तुत करता है।

जैसा कि बेरेमैन ने सही कहा है, लोगों के जीवन में जाति का अस्तित्व उनके अनुभव के स्तर पर ही मिलता है क्योंकि वे एक-दूसरे के साथ अन्योन्यक्रिया करते हैं, जिसे बोलचाल की भाषा में हम संपर्क या व्यवहार कह सकते हैं। जो लोग जाति को जीते हैं उनके लिए उसका मानवीय तात्पर्य सत्ताधिकार और अशक्तता, विशेषाधिकार और दमन, सम्मान और तिरस्कार, प्रचुरता और अभाव, पारितोषिक और वंचना, सुरक्षा और व्याकुलता है। एक नृवैज्ञानिक दस्तावेज के रूप में जो भी वृतांत इस अभिप्राय का संप्रेषण नहीं करता उसे आज की दुनिया में विडंबना ही समझा जाएगा।

इसके अलावा द्युमोंत ने जाति का एक ऐसा सिद्धांत गढ़ने का प्रयत्न किया जो पूरे भारतीय उप-महाद्वीप पर लागू हो सके। मगर अनुभव के स्तर पर वर्ण क्रम-परंपरा व्यवस्था में हमें आंचलिक भिन्नताएँ भी देखने को मिलती हैं। भारत के कुछ अंचल ऐसे हैं जहां ब्राह्मणों को सबसे श्रेष्ठ समझा जाता है, मगर ऐसे अंचल भी कई हैं जहां उन्हें उतना अधिक आदर नहीं मिलता। इसका उदाहरण भारत का पश्चिमोत्तर अंचल है।

ii) *प्रस्थिति और सत्ताधिकार एक दूसरे से स्वतंत्र नहीं होते:* द्युमोंत का सिद्धांत इस अवधारणा पर टिका है कि भारतीय समाज में आनुष्ठानिक क्रम-परंपरा सत्ताधिकार और संपदा के आधार से स्वतंत्र होकर काम करती है। उनके आलोचकों में यही अवधारणा सबसे विवादास्पद विषय है। उदाहरण के लिए बेरेमैन का तर्क है कि सत्ताधिकार-प्रस्थिति का विरोध जाति के संदर्भ में एक गलत द्विभाजन है। वह आग्रहपूर्वक कहते हैं कि दोनों सभी जगह साथ-साथ चलते हैं और भारत का मामला इसका अपवाद नहीं है। सत्ताधिकार और प्रस्थिति एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। अपने तर्क में वे वर्ण-व्यवस्था में गोंड जनजाति के आ मिलने का उदाहरण देते हैं। गोंड लोगों को वर्ण-व्यवस्था में प्रायः अछूतों के रूप में मिलाया गया था। मगर जिस जगह उनके पास भूमि के रूप में शक्ति या सत्ताधिकार था वहां उनके साथ भिन्न तरह का व्यवहार हुआ। इस स्थिति में स्थानीय वर्ण क्रम-परंपरा में उन्हें काफी ऊँचा दर्जा दिया गया और राज गोंड कहकर उन्हें संबोधित किया गया। इसी तरह से समाजशास्त्री दीपांकर गुप्ता भी कहते हैं कि वर्ण-व्यवस्था का नियम तभी माना जाता था जब उसके साथ सत्ताधिकार का नियम भी काम कर रहा हो।

iii) *द्युमोंत का सिद्धांत ब्राह्मणवादी परिप्रेक्ष्य है:* वर्ण-व्यवस्था का आंशिक और पूर्वाग्रही दृष्टिकोण रखने के लिए द्युमोंत की खूब आलोचना हुई है। उनका सिद्धांत काफी हद तक प्राचीन हिन्दू ग्रंथों पर आधारित है जिनकी रचना सवर्ण ब्राह्मणों ने की थी। इस कारण उनका सिद्धांत सवर्णों के पूर्वाग्रहों का प्रतिबिंब है। यहां पर बेरेमैन की यह टिप्पणी गौर करने लायक है:

"द्युमोंत इसके लिए कुछ प्राचीन संस्कृत ग्रंथों पर तो भरपूर निर्भर रहते हैं मगर वहीं वे दूसरे स्रोतों को अनदेखा कर देते है। इस तरह के स्रोतों पर निर्भर रहने पर इस तरह की तकनीक अपरिहार्य हो जाती हैं, क्योंकि इससे आप जो चाहें 'सिद्ध' कर सकते हैं। इसका परिणाम यह निकलता है कि वह हमारे सामने जाति का जो दर्शन रखते हैं, वह कृत्रिम, अनम्य, रूढ़िबद्ध और आदर्शीकृत है। यह एक ऐसा दर्शन है जो हिन्दू भारत के इस सवर्ण आदर्श का बड़ी निकटता से पुष्टि करता है जैसा कि उसे सकारात्मक महत्व देने वाले लोगों के अनुसार होना चाहिए।"

एक अन्य विद्वान, जोआन मेंचर ने तमिलनाडू की छोटी जातियों के बीच जमीनी अध्ययन कार्य (फील्ड वर्क) किया था। उन्होंने भी पाया कि वर्ण-व्यवस्था के सबसे

निचले क्रम में रखे गए लोगों के विचार में जाति ने आर्थिक शोषण की एक बड़े ही प्रभावशाली व्यवस्था के रूप में काम किया है और कर रही है।

iv) *दयुमोंत पारंपरिक और आधुनिक समाज के बीच एक गलत द्विभाजन लेकर चलते हैं:* भारतीय समाज को बुनियादी रूप से पश्चिम से भिन्न बताने के लिए दयुमोंत की आलोचना की जाती है। वह पश्चिम के आधुनिक समाजों और तीसरी दुनिया के पारंपरिक समाजों के बीच विद्यमान द्विभाजन की धारणा को लेकर चलते हैं। उनका सिद्धांत मूलत: यह मानकर चलता है कि पश्चिम के आधुनिक समाज व्यक्तिवादी और समतावादी विचार रखते हैं। मगर पारंपरिक समाजों की विशेषता यह है कि वे मनुष्य की सामूहिक प्रकृति की अवधारणा को लेकर चलते हैं, उनमें व्यक्तिगत के बजाए सामाजिक लक्ष्यों को प्रधानता दी जाती है और इसलिए वे क्रम-परंपरा में बंधे रहते हैं। इसमें यह अर्थ छिपा है कि भारत जैसे पारंपरिक समाज समानता और स्वतंत्रता के मूल्यों के बारे में कुछ नहीं जानते। इस प्रकार उन्होंने भारत जैसे पारंपरिक समाज को बंद और अपरिवर्तनशील समाज के रूप में तो पश्चिम को प्रगतिशील और खुले समाज के रूप में दर्शाया।

v) *दयुमोंत का सिद्धांत व्यक्ति को कोई महत्व नहीं देता:* पारंपरिक समाज की दयुमोंत ने जो अवधारणा सामने रखी है वह व्यक्तिगत रुचि को कोई महत्व या मान नहीं देती है। बेरेमैन के अनुसार उन्होंने इस वर्ण-व्यवस्था के लोगों को भावनाशून्य, संगठित, यंत्रवत् चलने वाले प्राणियों के रूप में चित्रित किया है जो कठोर सामाजिक शक्तियों द्वारा शासित हैं,जो सार्वभौमिक मूल्यों का पालन बिना किसी संदेह और त्रुटि के करते हैं। पारंपरिक भारतीय समाज की इस अवधारणा को हम उन अनुभवजन्य अध्ययनों के आधार पर गलत सिद्ध कर सकते हैं जो पेशे से सामाजिक नृवैज्ञानिकों ने किए हैं। ये अध्ययन प्रमाणित करते हैं भारतीय लोग उतने ही दुराग्रही, गुटबाज और निजी तौर पर परिवर्तनीय हैं जितने कि दुनिया के अन्य लोग।

vi) *वर्ण-व्यवस्था की विचारधारा के विरोध में होने वाले सामाजिक आंदोलनों का दयुमोंत के सिद्धांत में कोई स्थान नहीं:* दयुमोंत के आलोचकों का कहना है कि वर्ण-व्यवस्था के दमनात्मक पहलू और इसके विरोध में होने वाले तरह-तरह के आंदोलन जाति के उपोत्पाद नहीं हैं जैसा कि दयुमोंत समझते हैं। आधुनिक और पूर्वाधुनिक भारत में ब्राह्मणवादी वर्चस्व के विरोध में अनेक आंदोलन हुए हैं। बौद्ध-धर्म से लेकर भक्ति आदोलन, सिख धर्म से लेकर नव-बौद्ध धर्म तक ऐसे बड़े ही शक्तिशाली आंदोलन चले हैं जो कुछ हद तक वर्ण-व्यवस्था की विचारधारा का विरोध करने में सफल रहे हैं। मगर दयुमोंत ने भारतीय समाज का जो चित्रण किया और वर्ण-व्यवस्था का जो सिद्धांत हमारे सामने रखा है, उसमें इन सब वास्तविकताओं के लिए कोई स्थान नहीं है।

बोध प्रश्न 2

1) पवित्रता और दूषण पर पांच पंक्तियों में टिप्पणी लिखिए।

....

....

....

....

....

....

2) द्युमोंत की आलोचना पाँच पंक्तियों में कीजिए।

....

....

....

....

....

17.6 सारांश

पारंपरिक भारतीय समाज और हिन्दू वर्ण-व्यवस्था के स्वरूप पर लुई द्युमोंत ने 'शुचिता' और 'अपवित्रता' का जो सिद्धांत रखा उससे अधिक प्रभावशाली शायद कोई अन्य नहीं है। तमाम तरह की आलोचनाओं के बावजूद उनकी पुस्तक भारतीय समाजशास्त्र और सामाजिक नृविज्ञान के विद्यार्थी के लिए अनिवार्य रूप से पठनीय मानी जाती है। आलोचकों ने हालांकि उनके सिद्धांत को लेकर मान्य मुद्दे उठाए हैं, मगर वे द्युमोंत जैसा कोई वैकल्पिक सिद्धांत भी नहीं सुझा पाए हैं। अपनी धारणाओं और विधियों के चलते वे अपने सिद्धांत के आलोचकों का प्रत्युत्तर देने में सफल रहे हैं। बहरहाल उनका सिद्धांत भले कितना ही शक्तिशाली क्यों न रहा हो, वर्ण-व्यवस्था के समकालीन परिप्रेक्ष्य को समझने में इसकी कोई उपयोगिता नहीं है। वर्ण-व्यवस्था एकदम भिन्न धरातल पर काम कर रही है। लोकतांत्रिक संस्थाओं और वयस्क मताधिकार की स्थापना ने जिस नई राजनीतिक प्रक्रिया के युग का सूत्रपात किया उसने वर्ण-व्यवस्था के व्याकरण को पूरी तरह से बदल डाला है।

17.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

चटर्जी, एस.एम. और यू. शर्मा संपा. (1994) *कंटेक्स्चुएलाइजिंग कास्ट*, ऑक्सफर्ड, ब्लैकवेल पब्लिशर्स

द्युमोंत, लुई (1970) *होमो हायर्किकस: द कास्ट सिस्टम एंड इट्स इम्प्लिकेशंस*, दिल्ली, विकास

17.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) वर्ण व्यवस्था की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं:

   i) समाज का सखंड विभाजन

   ii) क्रम-परंपरा

   iii) खान-पान और सामाजिक संपर्क पर अंकुश

   iv) धार्मिक अशक्तताएँ और विशेषाधिकार

   v) पेशा चुनने की छूट न होना

   vi) विवाह संबंधी वर्जनाएँ

2) जातियां लोगों का समूह हैं। उनमें आंचलिक भिन्नताएँ पाई जाती हैं। हर भाषायी अंचल में दो सौ से तीन सौ जातियाँ रहती हैं। जातियां छोटे अंतर्विवाही समूह हैं जिनकी अपनी एक विशिष्ट जीवन शैली होती है। जातियां अपनी हैसियत या स्थिति को वर्ण व्यवस्था की रोशनी में देखती हैं। वर्ण-व्यवस्था में जो योजना दी गई है वह स्पष्ट है, मगर वर्ण क्रम-परंपरा में जातियों का स्थान स्पष्ट नहीं है।

बोध प्रश्न 2

1) दयुमोंत ने वर्ण-व्यवस्था पर जो सिद्धांत दिया है, वह पूरी तरह से शुचिता और अपवित्रता की अवधारणा पर टिका है। दयुमोंत ने एक 'आदर्श पुरुष' सिद्धांत की रचना की और उसे संरचनावादी दृष्टिकोण से देखा। वह कहते हैं कि क्रम-परंपरा में जाति का स्थान उसकी शुचिता और अपवित्रता की विचारधारा निर्धारित करती है।

2) दयुमोंत के सिद्धांत की आलोचना में कही जाने वाली बातें इस प्रकार हैं:

   i) यह वह वास्तविकता नहीं है जिसे व्यक्ति दैनिक जीवन में जीता है।

   ii) प्रस्थिति और सत्ताधिकार एक दूसरे से स्वतंत्र नहीं होते।

   iii) यह ब्राह्मणवादी दृष्टिकोण को दर्शाता है।

   iv) इस सिद्धांत में व्यक्ति के लिए कोई स्थान नहीं है।